शोध मंथन Vol. XV No.IV Oct.- Dec. 2024 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 8.877 (SJIF)

कृषि और उससे जुड़ी परंपराएँः पहाड़ी क्षेत्रों के परिप्रेक्ष्य में

प्राप्तिः 18.10.2024
स्वीकृतः 26.12.2024

94

हितेन्द्र यादव
एसोसिएट प्रोफेसर (इतिहास विभाग)
लाजपत राय कॉलेज,
साहिबाबाद, गाजियाबाद
ईमेलः dr.hitendra2011@gmail.com

सारांश

प्रत्येक संस्कृति का विकास एक निश्चित भौगोलिक, आर्थिक परिवेश में होता है। अपने परिवेश से अनुकूलन करने और जीवन के लिए आवश्यक सुविधाओं को जुटाने के प्रयास में मानव समुदायों में विशेष प्रकार की जीवन पद्धति का विकास होता है। उनकी फसलें तथा अन्य उत्पादन, खान–पान, सन्निवेशों का स्वरूप, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक व्यवस्था, संस्थाएँ, परंपराएँ आदि सब एक निश्चित भौगोलिक परिस्थिति की देन होते हैं। विभिन्न युगों से संदर्भित अभिलेखों, साहित्य, बन्दोबस्ती आख्याओं, जनमानस में प्रचलित परंपराओं आदि में अभिव्यक्त भौगोलिक शब्दावली और सूचनाओं के आधार पर उस क्षेत्र की समग्र जीवन पद्धति का आकलन किया जा सकता है।

उत्तराखण्ड में भौगोलिक विषमता के कारण क्षेत्र विशेष के कृषिगत तथा व्यावसायिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा है। उत्तरवर्ती क्षेत्र के वर्ष के अधिकांश में बर्फ से ढके रहने के कारण कृषि उत्पादन काफी कम था और वर्ष में केवल एक ही फसल हो पाती थी। इसके विपरीत मध्य तथा दक्षिणवर्ती इलाकों (परभत और माल) में कृषि अपेक्षाकृत उन्नत थी। भाबर और उससे मिले पर्वतीय परगनों में वर्ष में तीन फसलें तक हो जाती थीं।

इस क्षेत्र से संबन्धित स्रोतों में कृषि भूमि के स्वरूप, कृषि उपकरणों, पद्धतियों और फसलों के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। इसके अलावा मौखिक स्रोत भी इसमें सहायक हैं। इनमें भूमि के प्रमुख प्रकार हैं–

तलाऊँ– इस सिंचित और उपजाऊ भूमि में धान और गेहूँ की फसलें अच्छी होती हैं।[1] तलाऊँ भूमि के भी **'सेरा'** और **'सिमार'** दो प्रकार हैं। सेरा नदी के किनारे निचली घाटियों में अत्यंत उपजाऊ क्षेत्र होते हैं। बैटन ने सोमेश्वर के निकट बोरारौ में कोसी घाटी की इस दृष्टि से काफी प्रशंसा की है।[2] 'सिमार', 'सेरा' से कम उपजाऊ और ऊँचे क्षेत्र में होती है। सूखे वर्षों में पानी की मात्रा कम होने पर सिंचाई करनी पड़ती है।[3]

उपराऊँ[4]– यह भूमि प्रायः उन ऊँचे क्षेत्रों में होती है, जहाँ सिंचाई के कोई साधन नहीं होते। खेती वर्षा पर आधारित होती है और इनमें केवल शुष्क फसलें ही उगाई जाती हैं। यह भूमि भी दो प्रकार

की है–**उपराऊँ अव्वल** (जो अधिकतर गाँव की आबादी के समीप और घाटियों में होती है तथा असिंचित होती है। इसमें गेहूँ, झुंगरा, जौ, मडुवा आदि फसलें उगाई जाती हैं) और **उपराऊँ दोयम** (अव्वल की तुलना में कम उपजाऊ होती है तथा ज्यादातर झुंगरा और मडुवा की फसलें होती हैं)।

इजरान[5]– यह परती भूमि का बोधक है। स्टोवेल के अनुसार इजरान ऊँचे–ऊँचे पर्वतों के डाँडों पर तथा बिल्कुल ढालदार स्थानों पर होती है। इसमें दो वर्ष में एक बार फसल बोई जाती है और खेती वर्षा पर निर्भर होती है। अधिकतर गहथ, कोटू, काफरा, मार्सा की फसलें उगाई जाती हैं।

खील व कटील– इजरान भूमि की भाँति ऊँचे पहाड़ी ढालों पर पाई जाती है और इसमें सीढ़ीदार खेत नहीं बन पाते, न ही जुताई के लिए हल का प्रयोग किया जा सकता है। यह भूमि बहुत ही ढालदार तथा पथरीली और उपज की दृष्टि से निम्न कोटि की होती है। इसमें प्रायः तीन-चार वर्ष में एक बार खेती की जाती है और उससे पहले उस पर उगी झाड़ियाँ आदि काटकर जला देते हैं, जिनकी राख खाद का काम देती है।[6] झूम कृषि से इसकी तुलना की जा सकती है। कुमाऊँ में इसे खील–कटील, काला बंजर, इजरान तथा गढ़वाल में काला बंजर कहा जाता है।[7] मडुवा, चुआ, गहथ, झंगोरा, हल्दी आदि इसमें बोई जाने वाली प्रमुख फसलें हैं।

कृषि से संबन्धित उपकरण–

हल– मैदानी भागों के हल के समान ही था।[8]

मय– असमान भूमि को समतल बनाने के लिए लकड़ी का एक मोटा, चपटा टुकड़ा था, जिस पर हल चलाने वाला खड़ा रहता था।[9]

दुर्मट/डिलारा– मिट्टी के ढेलों को तोड़ने के लिए कुमाऊँ में प्रयुक्त उपकरण दुर्मट[10], गढ़वाल में लकड़ी से निर्मित लम्बी मूठ वाला डिलारा[11]

कुटला– जमीन खोदने का उपकरण[12]

जौल– जमीन को मुलायम बनाने के लिए हल की किस्म का एक औजार[13]

डंडाला– इसमें लोहे के दाँत लगे होते थे। इसे मय भी कहा जाता था।[14]

दराती (कुमाऊँ)/दाँथी (गढ़वाल)– फसल काटने का उपकरण[15] (कुमाऊँ में दराती के लिए दातुली और आँसि शब्द भी प्रचलित हैं)

कृषि की पद्धतियाँ– कृषि कार्य के लिए जुताई, बुवाई, निराई आदि पद्धतियों को अपनाया जाता था। उत्तराखण्ड से संबन्धित स्रोतों में इनके लिए प्रयुक्त विभिन्न नाम हैं–

बान– खेत की प्रथम जुताई[16]

उखेलण– दूसरी जुताई[17]

बुवाई– जुताई के बाद खेत बीज बोने लायक हो जाता था

निराई– हाथ से घास उखाड़ना

गुड़ाई– कुटले से घास निकाल कर जमीन को इस प्रकार तैयार करना कि पौंधों को उपयुक्त हवा और पानी मिल सके।

मानणा– अनाज काटकर खलिहान में ले जाकर उसकी मड़ाई[18]

बतूण / फटक्यूण– मड़ाई के बाद अनाज को एक सूप में रखकर उससे भूसा निकालने के लिए सूप को हवा में धीरे–धीरे हिलाने की प्रक्रिया। जिन क्षेत्रों में कपड़े या धोतियों को झलकर भूसा उड़ाते थे, उसे फटक्यूण कहा जाता था।[19]

पाटा लगाना– भूमि को बीज बोने के लिए समतल करने की प्रक्रिया।[20]

उत्तराखण्ड में खरीफ को चौमासी तथा रबी को ह्यूंवाई कहा जाता है। ब्रिटिश अभिलेखों में इनका वर्गीकरण खरीफ और रबी के रूप में उपलब्ध होता है। खरीफ की फसलों में चावल, मडुवा, झुंगरा या मादिरा, कौणी, चुआ या मार्सा, कोटू, ऊगल, बाजरा, ज्वार, मकई या भुट्टा, उड़द, भट्ट, गहथ, रैंस, अरहर, गुरूंस, सरसों, तिल, भंगिर आदि थे। अप्रैल में बोकर अक्टूबर के अन्त में इसकी कटाई होती थी। रबी में गेहूँ, जौ, मसूर, चना, मटर, अलसी, सरसों आदि प्रमुख थीं। यह फसल नवंबर में बोने के बाद मार्च के अन्त में कटती थी। ऊँचाई बढ़ने के साथ–साथ फसलों की बुवाई और कटाई का समय परिवर्तित होता जाता था। सर्वाधिक ऊँचे क्षेत्रों में वर्ष में केवल एक ही फसल हो पाती थी। इनके अलावा कपास, भांग, गन्ना, अदरक, हल्दी, चिरायता, घुइयां, फाफड़ आदि फसलें थीं। भांग का उत्पादन गढ़वाल में अधिक होता था। 1840 से कुछ वर्ष पूर्व ही चाय का उत्पादन भी आरम्भ हो चुका था। कुमाऊँ की बोरारौ, कैड़ारौ और अठागुली (बारामण्डल परगना), रीठागाड़, सालम, रंगोड़, दारुण (चौगर्खा परगना) तथा मल्ली रौ, तल्ली रौ (ध्यानी रौ परगना) पट्टियाँ और पाली, सीरा, फल्दाकोट और गंगोली परगने अनाज उत्पादन के प्रमुख केन्द्र थे।[21] पाली की अधिशेष उपज अल्मोड़े जाकर बिकती थी। काली कुमाऊँ में हल्दी बहुत अधिक होती थी। सीरा में शाली का चावल तथा चौगर्खा की सालम पट्टी में होने वाला बासमती चावल काफी प्रसिद्ध था। गढ़वाल में देवलगढ़, नागपुर, तल्ला पैनखण्डा, बधाण, चौंदकोट, मल्ला सलाण तथा गंगा सलाण में अनाज उत्पादन प्रमुख रूप से होता था। अनाज के अतिरिक्त विभिन्न परगनों में केले (काली कुमाऊँ, सीरा, गंगोली), आलू (काली कुमाऊँ), बड़ी इलायची (अस्कोट), मेथी, पालक, मूली, तुरई (बारामण्डल), नारंगी (गंगोली), हल्दी, इलायची (मल्ला सलाण), आम (देवलगढ़), लाल मिर्च (चौंदकोट) का भी काफी उत्पादन होता था।

देहरादून में अनाजों के अतिरिक्त सभी प्रकार की सब्जियाँ भी उगाई जाती थीं। मसूरी के पर्वतीय भागों में आलू की फसल अच्छी होती थी। जौनसार–बावर में आलू, हल्दी, अदरक और मिर्च का उत्पादन होता था। तम्बाकू और प्याज केवल घरेलू उपयोग के लिए उगाते थे। गन्ना पर्वतीय तथा मैदानी दोनों भागों में उगाया जाता था। अफीम का उत्पादन जौनसार–बावर की अधिकतर पट्टियों में होता था।[22] टिहरी में भागीरथी और भिलंगना के किनारे की भूमि अधिक उपजाऊ थी।[23] अधिक ऊँचे इलाकों में जंगली लहसुन, रुबार्ब, लाल जड़ी, कटकी जैसी जड़ी–बूटियाँ, फाफर, अतीस, जम्बू, गंद्रायणी आदि का उत्पादन होता था। कुछ नई फसलें भी उगाई गईं, जिनमें आलू, टमाटर, चाय आदि प्रमुख थीं। चाय उत्पादन के लिए बैकेट, पौ तथा एफ, बेकर ने अपनी बन्दोबस्ती आख्याओं में क्षेत्रों की विस्तृत सूची दी है।[24] अधिकतर बागान यूरोपीयों के अधिकार में थे।

इस संपूर्ण अवधि में कृषि की पद्धतियों में परिवर्तन प्रायः नहीं हुआ। स्वतंत्रता के उपरान्त विभिन्न योजनाओं में कृषि के संवर्धन के लिए किए जाने वाले प्रयासों से उत्तराखण्ड भी अछूता नहीं

रहा। हरित क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति ने इस क्षेत्र के तराई–भाबर इलाकों को समृद्ध किया, परंतु पर्वतीय क्षेत्र में हाल ही के वर्षों तक कृषि उत्पादन के वही पुराने साधन मौजूद रहे हैं।

सिंचित क्षेत्र (तलाऊँ) की अपेक्षा असिंचित क्षेत्र (उपराऊँ) में फसलों की विविधता अधिक होती है। उत्तराखण्ड में 13 प्रतिशत सिंचित और 87 प्रतिशत असिंचित भूमि है। असिंचित कृषि पूरी तरह वर्षा पर निर्भर है। यही कारण है कि यहाँ बारहनाजा जैसी मिश्रित पद्धति का अधिक प्रचलन है, जबकि सिंचाई की सुविधा वाले क्षेत्रों में धान और गेहूँ अधिक उगाया जाता है। नदी के किनारे निचली घाटियों में धान की उपज के लिए सेरा अत्यंत उपजाऊ क्षेत्र हैं। हाट का सेरा (रामगंगा), बांसुली सेरा (गगास), बोरारौ (कोसी), मण्डल सेरा (कत्यूर घाटी, सरयू), रवाईं का रामा सिराईं क्षेत्र (उत्तरकाशी) आदि महत्वपूर्ण हैं। बारहनाजा[25] में गेहूँ, मडुवा, रामदाना, ऊगल, ज्वार, मक्का, भांग, राजमा, भट्ट, गहथ, रैंस, उड़द, लोबिया, गुरूंस, मूंग, तिलहन, मसाले, हरी सब्जियां, फल-फूल आदि के साथ बारह अलग–अलग फसलों को उगाया जाता है। कभी–कभी क्षेत्र विशेष की भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर इसमें बीस से अधिक फसलें भी होती हैं। बीज किसानों के अपने पारंपरिक भण्डार (बीजुड़ा) का होता है। फसल की कटाई के बाद खेत को परती छोड़ दिया जाता है। वर्षा से पहले बुवाई की जाती है। इस पद्धति का लाभ यह है कि सूखे या प्रतिकूल परिस्थिति में भी किसान का कुछ न कुछ उत्पादन हो जाता है। पर्वतीय क्षेत्रों की परंपरागत कृषि पद्धति का संरक्षण करने के लिए बीज बचाओ आन्दोलन ने तेजी से विलुप्त और प्रचलन से बाहर हो रहे अपने परंपरागत बीजों को बचाने का प्रयास करने के साथ ही विभिन्न किस्म के सैकड़ों प्रकार के बीजों को सुरक्षित और फसल के प्रचलन में रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। वर्तमान में इसके पास धान की 80 प्रजातियों के संग्रह के साथ ही 350 प्रजातियों के बारे में जानकारी है। इसी तरह गेहूँ की 10 प्रजातियों का संग्रह व 32 प्रजातियों की जानकारी, झुंगरे की 8, रामदाने की 3, राजमा की 220, नारंगी की 9, लोबिया की 8, भट्ट व सोयाबीन की 5 और तिल की चार प्रजातियों के साथ ही सब्जियों के बीजों की सैकड़ों प्रजातियों का संग्रह है। पारंपरिक बीजों में कम पानी में बेहतर उत्पादन की क्षमता होती है। 2009 के सूखे में इस बात की पुष्टि भी हो चुकी है।

सूचना–तकनीक के विकास के कारण बहुत सी नई जानकारियाँ अब जनता तक पहुंचने लगी हैं। उदाहरण के लिए कई पर्वतीय क्षेत्रों में खेत की जुताई के यंत्रों का स्वरूप बदल रहा है। हाथ से चलने वाले छोटे ट्रैक्टर का प्रयोग अभी प्रारंभिक अवस्था में है। विभिन्न सरकारी और गैर सरकारी संस्थाएँ कृषि उत्पादन और संवर्धन के लिए फसलों की गुणवत्ता, परंपरागत बीजों के संरक्षण–संवर्धन, वैज्ञानिक तरीके से उत्पादन की तकनीकों, जैविक खेती, उर्वरकों का प्रयोग, सिंचाई की व्यवस्था आदि के लिए प्रयासरत हैं। बेमौसमी शाक–सब्जियों के उत्पादन के लिए पौली हाउसों का प्रयोग बढ़ रहा है। पूर्ववर्ती युगों में विभिन्न फसलों के लिए किए गए भू–उपयोगों तथा सर्वे का विस्तृत डाटा तैयार करने से उसकी पहुंच जनता तक अधिक होगी और वर्तमान में कृषि भूमि के प्रकार, भौगोलिक परिस्थितियों एवं जलवायुगत परिस्थितियों के अनुरूप फसलों के उत्पादन व फसल चक्र का उसके साथ तुलनात्मक अध्ययन करने का लाभ निश्चित रूप से कृषि क्षेत्र में होगा। ब्रिटिश कालीन बन्दोबस्ती आख्याओं का अध्ययन करते हुए हम देखते हैं कि चाय आदि कुछ फसलों के

उत्पादन के लिए किए गए सर्वे और क्षेत्रों की सूची, भूमि की गुणवत्ता आदि का डाटा वर्तमान जलवायुगत परिस्थितियों में उस फसल के उत्पादन के लिए उन क्षेत्रों का तुलनात्मक मूल्यांकन करके तैयार किया जा सकता है। सूचना–तकनीक के उपयोग से दूरस्थ क्षेत्रों को डिजिटल माध्यम से जोड़ा जा सकता है।

विभिन्न संस्कृतियों में कृषि से संबन्धित उत्पादनों को लोक जीवन से जोड़ते हुए मौसमों के अनुरूप विभिन्न पर्वों के रूप में मनाने के साथ ही उनका महत्व बनाए रखने की परंपरा रही है। यद्यपि जीवन शैली में परिवर्तन के साथ ही आधुनिक समय में इनके स्वरूप में थोड़ा–बहुत परिवर्तन स्वाभाविक है। सूचना क्रान्ति के इस दौर में मंचीय प्रस्तुतियाँ भी होने लगी हैं। नई पीढ़ी तक इनको पहुँचाने के लिए इनके मूल उद्‌गम को प्रस्तुत करते हुए इनके संरक्षण की आवश्यकता है और इस प्रकार के प्रयास भी हो रहे हैं।

उत्तराखण्ड में कृषि से जुड़ी अनेक सांस्कृतिक परंपराएँ और त्यौहार हैं, जो पर्वतीय जनता के श्रमसाध्य जीवन को उल्लसित रखते हैं। इनमें कुछ प्रमुख हैं–

पल्ट– अदल–बदल कर या बारी–बारी से एक–दूसरे के खेत में कार्य करना। इसके अलावा सारे पशुओं को सभी परिवारों के सदस्य बारी–बारी से चराने ले जाते थे। यह परंपरा आपसी सहयोग और सामूहिकता की भावना को दर्शाती है।

ओग– पहली फसल या पहले फल को देवताओं पर चढ़ाना। गेहूँ की कटाई के दौरान उसकी कुछ बालियों को लेकर देवी–देवताओं को प्रसाद के रूप में चढ़ाया जाता था, उसे उमि कहते थे। यह एक प्रकार से प्रकृति के प्रति आभार व्यक्त करने के समान है।

बारी– सारे पशुओं को सभी परिवारों के सदस्य बारी–बारी से चराने ले जाते थे। शीतकाल में निवासियों द्वारा अपने पशुओं सहित निचले इलाकों में जाने पर गाँव में रहने के लिए कुछ परिवारों की बारी लगती थी। यह परंपरा उन संक्रमणशील गाँवों में भी थी, जहाँ निवासी दीपावली के बाद शीतकाल में गेहूँ आदि फसल बोकर अपने पशुओं सहित पर्वतों की तलहटी में चले जाते थे और अप्रैल के महीने में वहाँ बोई हुई फसल की मड़ाई करते थे। 1871 के जनगणना आंकड़ों में इन गाँवों के लोगों की संक्रमणशीलता के कारण अक्टूबर में जनसंख्या सर्वाधिक और जनवरी में न्यूनतम दर्शाई गई है।[26]

हरेला– अच्छी फसल के उत्पादन तथा ऋतुओं के प्रतीक के रूप में मनाया जाने वाला हरेला प्रकृति की उपासना तथा मनुष्य और पर्यावरण के अन्तर्संबन्ध का पर्व है। मौसम की फसल के अनुरूप बीज बोया जाता है– चैत्र में गेहूँ व जौ और सावन में धान, गहथ, भट्ट, मक्का, उड़द। कहीं–कहीं विजयादशमी के अवसर पर भी हरेला होता है। हरेले के मनाए जाने की एक परंपरा यह भी है कि यह मुख्य रूप से देवी–देवताओं की कृषि है। मूलतः उन्हें हम अपनी ही तरह जीवित प्राणी मानते हैं, इसलिए मानव जीवन के अनुरूप उनकी खेती भी करते हैं। चूंकि देवी–देवता प्रायः घर के भीतर देवस्थल में रखे जाते हैं, अतः हरेला भी वहीं बोया जाता है। प्रकाश के अभाव में यह पीला होता है और हरेला जितना पीला हो उतना अच्छा माना जाता है। मांगलिक कार्यों में भी हम देखते हैं कि पीला रंग ही अधिक प्रयुक्त होता है। सावन के हरेले का अधिक महत्व है। हरेले में दिया जाने वाला आशीर्वाद बहुत ही मंगलकामना से परिपूर्ण है।[27] डी.डी. शर्मा के अनुसार लोक जीवन में हरेला या

हरियाला को लेकर अनेक कहावतें और मुहावरे भी प्रचलित हैं।[28]

घ्यू संक्रांत या घी त्यार (घी संक्रान्ति)– भादो की प्रथम तिथि को मनाया जाने वाला यह पर्व किसानों व पशुपालकों से संबद्ध रहा है। इन दिनों खूब सब्जियाँ होती हैं। फसल में धान की बालियाँ आती हैं। कुमाऊँ के ग्रामीण अंचलों में इस पर्व पर उड़द और भीगे चावलों को पीसकर बेडुआ रोटियाँ बनाकर उनमें खूब घी लगाकर खाया जाता है।[29] अपने मित्रों व संबन्धियों को दही की ठेकी, घी, मक्खन, मौसमी खाद्य पदार्थ जैसे गाबे (अरबी के पत्ते), केले, भुट्टे आदि ओलग के रूप में भेंट देते हैं। गढ़वाल में इस अवसर पर खीर खाने, अपने पशुओं के सींगों में तेल लगाने तथा उन्हें आटे में गुड़ मिलाकर बनाया गया पदार्थ–पेडू खिलाने की परंपरा है।

सात–आठूँ तथा बिरुड़ पंचमी– मूल रूप से कुमाऊँ के सोर, सीरा, अस्कोट, तल्ला जोहार, तल्ला दारमा तथा पश्चिमी नेपाल में भाद्रपद में सातूँ (सप्तमी) को गंवरा–मैसर (गौरा–महेश्वर) के विग्रह स्वरूप की स्थापना करके आठूँ (दूर्वाष्टमी) को उनसे संबन्धित कथागीत गाये जाते हैं। देबसिंह पोखरिया के अनुसार ''आठूँ में गाये जाने वाले गीतों में गेय तत्व की प्रधानता है। इन गीतों के साथ नृत्य योजना भी रहती है।''[30]

जब गौरा मायके आते हुए विभिन्न वनस्पतियों से रास्ता पूछती है, तो चीड़ का पेड़ कहता है–''मैं क्या जानूँ''? तो वह उसको कटने के बाद कभी न पनपने का श्राप देती है और नारंगी की डाली के रास्ता बताने पर कहती है ''तू सदा हरी–भरी और फलों से लदी रहना''।[31] क्षेत्र की स्थानीय उपज के आधार पर बिरुड़ पंचमी को कहीं पाँच और कहीं सात अनाजों–मक्का, गेहूँ, गहथ, भट्ट, गुरूँस, चना, कलौं (मटर) को भिगाकर आठूँ के दिन अंकुरित होने के बाद प्रसाद (बिरुड़) के रूप में ग्रहण किया जाता है। स्त्रियाँ गौरा को सजाकर गीत गाते हुए अगले वर्ष आने की कामना के साथ कैलाश की ओर विदा करती हैं। समापन ठुलखेल नृत्यगीत (रामायण–महाभारत आदि के कथानकों पर आधारित पहाड़ी काव्यात्मक और लयबद्ध नृत्य शैली) के साथ होता है। गाने वाला मुख्य कलाकार बखणिया कहा जाता है। अन्त में प्रतिमाओं का जल स्रोतों जैसे नौलों-धारों आदि में विसर्जन किया जाता है।

अपने परिवेश में मैंने दो प्रकार की परंपराएँ देखी हैं– पहले में पंचमी को गेहूँ और चना भिगाकर अंकुरित होने पर सामूहिक रूप से पूजा करने के बाद आठूँ के दिन प्रसाद बाँटा जाना और दूसरा पंचमी को ही पूजा हेतु एक अलग पोटली बनती है, जिसमें चना, गेहूँ, पीली सरसों, हल्दी का टुकड़ा, दाड़िम तथा एक सिक्का डालकर उसमें भी जल का छिड़काव किया जाता है और सातूँ के दिन स्त्रियाँ अपने–अपने घरों की पोटली लाकर किसी एक घर के देवस्थल में रखती हैं। आठूँ को ये सभी पोटलियाँ घर के एक बड़े बर्तन में खोली जाती हैं। स्त्रियाँ सामूहिक रूप से पूजा के उपरान्त आंचल फैलाती हैं और उनमें से एक सयानी महिला दो हाथों से अंजलि बाँधकर प्रसाद को उनके आँचल की ओर उछालती है। स्त्रियाँ प्रसाद में से जो भी मिला, उसे ग्रहण करती हैं। इसके पीछे निवासियों के धन–धान्य से परिपूर्ण रहने की परिकल्पना रही होगी। दूर्वाष्टमी को महिलाओं द्वारा गले में दुबज्यौड़ और बाँह में डोर बाँधा जाता है।

हिलजात्रा– मूल रूप से पिथौरागढ़ जनपद के सोर क्षेत्र में (कुमौड़, बजेटी और आस–पास के क्षेत्र) सातूँ–आठूँ के दौरान लकड़ी से बने मुखौटे लगाकर किए जाने वाले इस लोकनाट्य/नृत्य में

वर्षाकाल के कृषि संबन्धी क्रियाकलापों–जुताई, रोपाई आदि का विभिन्न पात्रों के माध्यम से अभिनय किया जाता है। यह कृषि पर्व एक लम्बी अवधि से पर्वतीय क्षेत्रों में मनाया जाता है। आठूँ पर्व पर गौरा–महेश्वर की विदाई के दिन यह आयोजित किया जाता है। इसमें पुतारियाँ (पौंधे रोपने वाली स्त्रियाँ) तथा भजन मण्डली के सदस्यों को छोड़कर सभी पात्रों द्वारा मुखौटे धारण किए जाते हैं। इसके मुख्य पात्र हैं– घोड़िया चौकीदार, झाड़ूवाला, जालिया (मछेरा), दहीवाला, ग्वाला, हलवाहा, छोटे बैलों की जोड़ी, पुतारियाँ, हिरन चित्तल, लखिया भूत, नाई, भालू, भजन मण्डली। यह प्रदर्शन खुले मंच या मैदान पर एक साथ समवेत रूप से होता है। सभी अपने क्रम में आते हुए अपने नाम और पात्र के अनुरूप अभिनय करते हैं। गौरा–महेश्वर की विदाई के साथ यह समाप्त होता है। डी. डी. शर्मा के अनुसार ''हिलजात्रा विशुद्ध लोकनृत्य है। अतः लोकनाट्य के अधिक निकट है। वर्षा ऋतु के आगमन पर बड़ी धूम–धाम के साथ यह मनाया जाता है। पुतारियाँ पौंधे रोपती हैं, हलिया हल चलाते हैं, बौसिया खेतों की मेंड़ बनाते हैं और इन्हें इनारे–किनारे खोदते हैं। इसी दैनन्दिन प्रक्रिया को लोकमानस में नृत्य और नाट्य का रूप प्रदान किया गया होगा और कालान्तर में यह लोक मनोरंजन का प्रमुख आधार बन गया।[32]

हुड़किया बौल– कुमाऊँ का यह लोकप्रिय कृषि गीत हुड़का वाद्य की थाप पर लोकगायक/गायकों के समूह द्वारा धान की रोपाई के समय लय और ताल के साथ गाया जाता है ताकि रोपाई का कार्य बोझिल और उदासीन न हो। इसमें कलाकारों के साथ गीतों को दोहराकर महिलाएँ धान के पौंधे रोपती जाती हैं। हुड़किया बौल का शाब्दिक अर्थ है–कई हाथों का एक साथ कार्य करना। जहाँ धान की रोपाई नहीं होती, वहाँ मडुवे की गुड़ाई के समय इसका आयोजन होता है। रोपाई जैसे थका देने वाले सामूहिक कार्य को एक लय में बाँधना और श्रम को गति देना इन गीतों का उद्देश्य रहा है। प्रारंभ में लोकगायक भूमियाँ, इन्द्र आदि देवताओं से किसानों, फसल, हलिया एवं बैलों की रक्षा करने की प्रार्थना करता है।[3333]

एक उदाहरण है– ''सेलो दिया बिता हो धरती माता
दैंणा है जाया हो भुमिया देवा,
दैंणा है जाया हो धरती माता,
दैंणा है जाया हो पंचनाम देवा,

फिर वीरगाथाएँ (रमौल–बफौल) आदि गाई जाती हैं।[34] गढ़वाल में रोपाई के अवसर पर पँवाड़े गाये जाते हैं।

शांत– सावन में रवाईं उत्तरकाशी क्षेत्र में दूध और मट्ठा की होली होती है। पशुओं की पूजा की जाती है और छानियों में सारे ग्रामीण लोग सामूहिक रूप से एकत्र होते हैं। इस अवसर पर कृष्ण की पूजा की जाती है, ताकि उनके खेती–बाड़े और पशु सुरक्षित रहें।[35]

खतड़ुआ– वर्ष में दो बार गोठ अर्थात गौशाला की सफाई की जाती है– एक होली और दूसरा खतड़ुआ के अवसर पर। ये कृषि के समय उल्लास के पर्व हैं। खतड़ुवे में बरसात के बाद गोठ के गोबर और घास–फूस की सफाई करके उसे किसी स्थान पर जला देते हैं। कुछ क्षेत्रों में इसे गै-त्यार (गायों का त्यौहार) भी कहा जाता है। इस दिन पशुओं के सामने खूब घास डालकर उनकी सेवा किए जाने से भी इस बात की पुष्टि होती है कि यह कृषि युग का प्राचीन त्यौहार है।

गोधन महर (गोवर्धन पूजा)– दीवाली के अवसर पर गोधन महर के दौरान चावल को पीसकर, उसका घोल बनाकर स्थानीय कृषि पद्धति में प्रचलित अनाज नापने के मात्रक माणा से गायों पर ठप्पे लगाये जाते हैं।

बग्वाली (भाई दूज)– गोधन महर के अगले दिन धान कूटकर उसके च्यूड़े बनाकर उसे सिर पर रखते हुए आशीर्वाद देने की परंपरा है।

दियाई (बूढ़ी दीवाली) – जौनसार–बावर में एक माह बाद मंग्शीर (मार्गशीर्ष) के महीने में मनाई जाती है। इसमें जौ और मक्के का हरियाला बोया जाता है और धान, झंगोरा, कौणी, चीणा आदि अनाजों को भूनकर बना एक पकवान–बुकण तथा हरियाले की छुटकी (गुच्छा) अपने सबसे प्रिय मित्रों और संबन्धियों को उपहार में देते हैं। जिसके वस्त्र में जितने अधिक हरियाले टंगे होते हैं, वह सबका उतना ही प्रिय माना जाता है।[36]

क्षेत्रपाल या भूमिया की पूजा – यह खेतों तथा ग्राम सरहदों का छोटा देवता है। इसका प्रत्येक गाँव में मन्दिर होता है। जब अनाज बोया जाता है या नया अनाज उत्पन्न होता है तो उससे इसकी पूजा होती है, ताकि यह बोते समय ओले या अन्य पशुओं से उसका बचाव करे और भण्डार में अन्न रखा हो तो कीटों व चूहों से उसकी रक्षा करे। इसे दयालु तथा न्यायी माना गया है।[37]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि शिकारी व संग्राहक से खाद्यान्न उत्पादक संस्कृति के उद्विकास के क्रम में मनुष्य विभिन्न सोपानों को पार करते हुए अपने आर्थिक क्रियाकलापों को अनेक सांस्कृतिक गतिविधियों से समृद्ध करने में सक्षम हुआ है। वर्तमान वैज्ञानिक प्रगति एवं सूचना तकनीकी के युग में इन सभी परंपराओं का संरक्षण एवं संवर्धन करने का प्रयास करना इन परंपराओं के विकास और प्रसार के लिए आवश्यक है।

संदर्भ

1. स्टोवेल, वी.ए., मैनुएल ऑफ लैण्ड टैन्योर्स ऑफ द कुमाऊँ डिवीजन, (इलाहाबाद 1906), पृ. 5
2. बैटन, जे.एच., फाइनल रिपोर्ट ऑन द सैटिलमेंट ऑफ कुमाऊँ डिस्ट्रिक्ट, (बनारस 1863), पृ. 256
3. पन्त, एस. डी., द सोशियल इकॉनॉमी ऑफ द हिमालयन्स, (लन्दन 1922), पृ. 82
4. बेकेट, जे.ओ.बी., रिपोर्ट ऑन द रिवीजन ऑफ कुमाऊँ डिस्ट्रिक्ट, (इलाहाबाद 1866) भाग 1, पैरा 66
5. स्टोवेल, वही, पृ. 5
6. स्टोवेल, वही, पृ. 5
7. पन्त, एस. डी., पृ. 82
8. बेकेट, जे.ओ.बी., वही, भाग 1, पैरा 66
9. बेकेट, जे.ओ.बी., वही, भाग 1, पैरा 66 तथा पौ. ई.के. रिपोर्ट ऑन द टैन्थ सैटिलमेंट ऑफ द गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट, (इलाहाबाद 1886), पैरा 21
10. बेकेट, जे.ओ.बी., वही, भाग 1, पैरा 66
11. पौ. ई.के. वही, पैरा 21
12. बेकेट, जे.ओ.बी., वही, भाग 1, पैरा 66

13. पौ. ई.के. वही, पैरा 21
14. पौ. ई.के. वही, पैरा 21
15. पौ. ई.के. वही, पैरा 21
16. पौ. ई. के. वही, पैरा 21
17. पौ. ई. के. वही, पैरा 21
18. उप्रेती, माधवी, (अब स्वर्गीय) ग्राम दिगोली, अल्मोड़ा (साक्षात्कार)
19. उप्रेती, माधवी, वही ट्रेल
20. जॉर्ज विलियम, ए स्टैटिस्टिकल स्केच ऑफ कुमाऊँ, एशियाटिक रिसर्चेज, भाग 16, (1828) पृ. 182 से 184 तथा स्टैटिस्टिकल रिपोर्ट ऑन द भोटिया महाल्स ऑफ कुमाऊँ, एशियाटिक रिसर्चेज भाग 17 (1832), पृ .7; पौ.ई.के. वही, पैरा 24; मूरक्राफ्ट, विलियम, ए जर्नी टु लेक मानसरोवर (दिल्ली 1937), पृ. 17
21. अपने मुलुक का भूगोल (1865), किरन त्रिपाठी द्वारा संपादित, (पहाड़, नैनीताल, 1997)
22. वॉल्टन, एच.जी. देहरादून गजेटियर (इलाहाबाद 1911) पृ. 56-58
23. अपने मुलुक का भूगोल, वही पृ. 63 तथा डबराल, शिवप्रसाद प्रसाद, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 6 (दोगड्डा, गढ़वाल,1976), पृ. 475-76
24. देखें बेकेट, जे.ओ.बी. , वही, भाग 1, पौ. ई.के. वही, पैरा तथा बेकर, एफ., फायनल रिपोर्ट ऑफ द एर्थ रिवीजन ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू सैटिलमेंट ऑफ द देहरादून डिस्ट्रिक्ट (देहरादून, 1886), पैरा 170
25. विस्तार के लिए देखें विजय जड़धारी द्वारा लिखित पुस्तक 'बारहनाजा' (अकादमी ऑफ डेवलपमेंट साइंसेज, रायगढ़, महाराष्ट्र, 2007)
26. प्राथमिक जनगणना सार संग्रह, भाग 13 'ब' (1871)
27. जी रये जागि रये, तिष्टिये, पनपिये
    दुब जस हरी जड़ हो, ब्यर जस फइये
    हिमाल में ह्यूँछन तक, गंगज्यू में पाणि छन तक
    यो दिन औ यो मास भेंटने रये.....''
28. शर्मा,डी. डी., उत्तराखण्ड का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास (उत्तरायण प्रकाशन, हल्द्वानी, 2003), पृ. 32
29. शर्मा, डी. डी., वही, पृ. 33
30. पोखरिया, देबसिंह , लोकसाहित्य के आयाम, (पहाड़– 16–17, पिथौरागढ़–चम्पावत अंक–2, (नैनीताल, 2009)
31. गौरा पूछती है–''बाटा मैं कि सल्ला चीड़ कि डालि, मेर मैत जाणि बाटा कि हो''
    तो चीड़ का पेड़ कहता है '' अपण सुसाटा, अपण भुभाटा, मैं कि जाणु तेर मैतो को बाटा''

32. शर्मा,डी. डी., वही, पृ. 48 सेवो द्यो भुम्याल देवा..''
33. एक उदाहरण है– ''सेलो दिया बिता हो धरती माता
दैंणा है जाया हो भुमिया देवा,
दैंणा है जाया हो धरती माता,
दैंणा है जाया हो पंचनाम देवा,
सेवो द्यो भुम्याल देवा..''
34. धनियाकोट के ब्यांसी गाँव के देवराम द्वारा गाई जाने वाली अजुवा रौत की गाथाओं का एक उदाहरण– ''चौबटा चौखवा मजा पुरबिया माल ऐरौ, पछिमिया माल ऐरौ, उतरिया माल ऐरौ, दखिणिया माल ऐरौ, ओ राजा गुरज्ञानी कणि भारी औसाणा ऐरौ, उनरो जोइया ऐरौ, राजा को हुकुम ऐरौ...'' (आक्रमण करने के लिए योद्धाओं के आगमन का वर्णन है, चौखवा =एक जगह बीच में लोगों के इकट्ठा होकर बैठने का स्थान, माल = मल्ल/योद्धा, मजा = मध्य, जोइया = संदेशवाहक)
35. रावत, विजेन्द्र, (पत्रकार व निवासी नौगाँव, गढ़वाल (साक्षात्कार)
36. रावत, विजेन्द्र, वही
37. पाण्डे, बदरीदत्त, कुमाऊँ का इतिहास (अल्मोड़ा 1937), पृ. 664